

अहिंसा : वर्तमान युग में

—माणकचन्द कटारिया



मनुष्य के साथ और इस पूरी सृष्टि के साथ अहिंसा इस तरह जुड़ी है कि उसे आप बाँट नहीं सकते। अभी युग अहिंसा का चल रहा है और कल हिंसा का युग आने वाला है या हिंसा का युग बीत गया और अब अहिंसा की बारी आई है, ऐसा कैसे कहेंगे? क्रिकेट के खेल की तरह कभी हिंसा की इनिंग (पारी) और कभी अहिंसा की इनिंग नहीं चलती। अहिंसा मनुष्य के जीवन की तर्ज है, जो उसके रक्त में बिधी है। अपने उन्माद में आदमी बहुत भड़ककर अपनी और सामने वाले की तबाही करके भी जब सहज होता है तो शान्ति की खोज करने लगता है। उसके भीतर करुणा के, प्रेम के, संवेदना के अंकुर फिर-फिर उग आते हैं। यही मनुष्य के जीवन का मर्म है। बल्कि, बहुत ध्यान से आप देखें तो पूरी सृष्टि में जीवन के तार करुणा से जुड़े हैं, संवेदना से जुड़े हैं।

फिर भी कुछ ऐसा तो हो ही गया है कि हमें अहिंसा पाने के लिए, जीवन में उसे प्रतिष्ठित करने के लिए और हमारे चारों ओर समाज में धधक रही हिंसा को बुझाने के लिए लगातार साधना करनी पड़ रही है। अहिंसा वालों का एक अलग खेमा है। वे जीव-दया वाले हैं। फूँक-फूँक कर जीवन जी रहे हैं। रात में नहीं खाते। मांस, मछली; अण्डा तो दूर, बहुत-सी तरकारियाँ भी नहीं छूते। कई चीजें छोड़ दी हैं। बहुत से डू-नाट्स—नहीं करने के बन्धन स्वीकारते हैं। धीरे-धीरे अहिंसा के बारे में हमारा ऐसा ख्याल बना कि काया को हिंसा से बचाओ। काया हिंसा से बच गई तो अहिंसा सध जायगी। इस एक मामले से हम अहिंसा वाले बहुत लम्बा रास्ता नाप गये। खूब चले हैं। लेकिन लगता है कि केवल ऊपर-ऊपर ही चलते रहे हैं। नतीजा यह है कि हमारे हाथ जो अहिंसा आई वह केवल 'सतही अहिंसा' है। एकदम ऊपर की अहिंसा। मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में निहत्था होता जा रहा है। उसके हाथ से तलवार छूट गई है और उसकी पीठ पर से तरकश उतर गया है। उसके मुँह का कौर निरामिष बनता जा रहा है। जिनका नहीं बन पाया है वे भी धीरे-धीरे निरामिष हो जायेंगे। मनुष्य की सभ्यता ने आपस के व्यवहार में मिठास धोली है। हम अपने विवाद आपसी बातचीत, समझाइश, तर्क-चर्चा के धरातल पर ले आये हैं। बहुत गुस्सा होकर भी पिस्तौल नहीं तानते। हत्याओं का प्रतिशत इतना नगण्य है कि मनुष्य अहिंसक होने का दावा कर सकता है।

पेराडाक्स-विरोधाभास

लेकिन यह एक परत है—बहुत पतली झिल्ली जो हमें अहिंसक होने का आभास दे रही है। भीतर तो सारा व्यापार हिंसा का चल रहा है। बल्कि हिंसा बहुत खुलकर खेल रही है। मनुष्य की तृष्णा बड़ी है, ईर्ष्या पैनी हुई है, स्पर्धा ने घेरा है उसे, स्वार्थ ने नए आयाम पाये हैं, सत्ता-धन-यश के त्रिभुज पर हमारी आँखें टिक गई हैं। एक ऐसी हायरआरकी-श्रेणीबद्धता में हम उलझ गये हैं कि शोषण, अन्याय और अहंकार की शृंखला टूटती ही नहीं। मनुष्य भयभीत है। वह इस दुबिधा में पड़ा है कि इस पटरी से उतर कर कहाँ जाय। जरा चूका कि मानव समाज के बहुत ही निचले धरातल पर फेंक दिया जायगा। इसलिए कोई चूकना नहीं चाहता—जैसे भी हो अपने लिए समाज का ऊँचा धरातल बनाये रखना चाहता है।

वस्तुओं के बाहुल्य ने और बाहुल्य के साथ जुड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा ने मनुष्य को बहुत तोड़ा है। हम टूट कर दो समानान्तर पटरियों पर दौड़ लगा रहे हैं। एक पटरी पर दौड़कर संग्रह कर रहे हैं और दूसरी पटरी पर चलकर उसमें से थोड़ा बाँट आते हैं ताकि करुणा को, त्याग को, संयम को और जिसे हमने 'धर्म' नाम दे रखा है उसे

थोड़ा समाधान मिल जाय। यह बहुत साफ है कि आदमी अपने स्वधर्म पर नहीं है। उसने अपने समाज जीवन में जिन प्रतिष्ठा प्रतिमानों को आत्मसात् किया है वही उसका सेकण्ड नेचर-संस्कारित धर्म बन गया है और इसे ही दोनों हाथों से वह थामे हुए है। इसलिए आज हम मनुष्य के चेहरे पर जो अहिंसा देख रहे हैं वह बहुत ऊपर-ऊपर है—एकदम सतह पर है।

यों हिंसा को समर्थन नहीं है। कोई उसकी पैरवी नहीं करता। मारकाट, दंगा-फसाद, जोर-जबर्दस्ती, हत्या, युद्ध मनुष्य की लाचारी भले ही हो, उसके जीवन का मान्य रास्ता नहीं है। वह हिंसा से बचना चाहता है। समाज-व्यवस्था के प्रत्येक बिन्दु पर हम इसी बात की चौकीदारी में लगे हैं कि हिंसा कहीं से फूट न पड़े। पंचायतों और जनपदों से लेकर संयुक्तराष्ट्रसंघ तक जितनी व्यवस्थाएँ मनुष्य ने अपने-अपने दायरों में खड़ी की हैं, वे सब इसी उधेड़बुन में हैं कि समाज में शान्ति कायम रहे और आदमी आदमी बना रहे। बल्कि इसी अमनोअमान के लिए हमारे पास पुलिस और फौज की व्यवस्था है। इतनी ज्यादा है कि मनुष्य की सर्वाधिक ताकत इसी में खर्च हो रही है। फिर भी हिंसा जहाँ-तहाँ फूट पड़ती है और यदि सारे संसार के पुलिस थानों के रोजनामचे एकत्र किए जायें तो हम काँप जायेंगे। कबीर को हरिगुण का वर्णन करने के लिए सात समंदर की मसि चाहिए थी, लेकिन पूरे विश्व के चप्पे-चप्पे पर चल रहे अन्याय, अत्याचार और शोषण की कहानी लिखने के लिए सात समंदर की मसि से कुछ नहीं होगा।

ये दो चीजें एक साथ कैसे चलेंगी? हिंसा के जितने ब्रीडिंग ग्राउण्ड—उपज स्थान हैं वे कायम रहेंगे, बल्कि दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते जायेंगे और अधिकाधिक पुष्ट होते जाएंगे, साथ ही हम अपने चेहरे, अपनी संस्कृति, अपने सारे धर्म-ग्रन्थ, अपने सम्पूर्ण नीति वचन अहिंसा के चरणों में न्यूछावर करते जायेंगे—तो ये दोनों बातें एकसाथ कैसे चलेंगी? इसलिए मैं कहता हूँ कि आज का मनुष्य एक ब्रोकेन मैन—टूटा हुआ मनुष्य है। एक ही मनुष्य का एक हिस्सा जमकर हिंसा में जी रहा है और उसी का एक हिस्सा अहिंसा का गीत गा रहा है। जब वह अपने-आप में होता है तो उसकी संवेदना पिघलती है, उसकी तृष्णा गलती है, उसकी करुणा सक्रिय होती है। उसे बाहुल्य नहीं चाहिए। वह अपना कौर किसी भूखे के मुँह में देकर संतुष्ट होता है। लेकिन जब वही समाज के बीच होता है, व्यापार-व्यवसाय में होता है, राज-सत्ता में होता है, किसी पद पर आसीन है, किसी मान-मर्यादा में लिप्त है तब वह एकदम बदला हुआ मनुष्य है—तब उसे चाहिए ही चाहिए। जितना पाया है वह कम है। जैसे भी हो चाहिए—एक से एक बढ़िया वस्तु चाहिए। वह समाज के जिस धरातल पर है उससे भी अधिक ऊँचा धरातल उसे चाहिए। इस तरह मनुष्य ने अपनी डबल परसनलिटी—दोहरा व्यक्तित्व रच लिया है। वह अपने-आप में कुछ और है तथा अपने आसपास के संसार में कुछ दूसरा ही आदमी है।

हिंसा का काम

इस कारण अहिंसा एक मुकाम पर आकर ठिठक गई है। वह इतना ही चल पाई कि काया खुद की हिंसा से बची रह जाय। अहिंसा को रसोईघर में स्थापित करके हम बहुत प्रसन्न हैं कि हमसे अहिंसा निभ गई। हमारा ध्यान इस बात पर गया ही नहीं कि जिस सभ्यता को हम जी रहे हैं, जिस बाहुल्य को हम भोग रहे हैं, वस्तुओं के एक विशाल सागर में तैर रहे हैं, व्यापार-व्यवसाय और समाज-व्यवस्था का जो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ढाँचा हमने खड़ा कर लिया है तथा मनुष्यों के बीच आपस में जितना भेद-जाति का, सम्प्रदाय का, रंग का, धर्म का, धन का, सत्ता का और संस्कृति का खड़ा कर लिया है—इस सबने मनुष्य को पारे की तरह बिखेर दिया है। ऐसा टूटा हुआ मनुष्य कौन-सी अहिंसा जीयेगा? वह तो अपनी ही चिंता में पड़ा है। उसे अब अपने सिवाय कुछ दूसरा सूझता ही नहीं। लेकिन अहिंसा का तो एक अलग क्षेत्र है। वह संवेदना और सह-अस्तित्व के रथपर चढ़कर ही आयेगी। आप प्यार करते हैं तो मेरा क्रोध गलता है। आप कुछ छोड़ रहे हैं तो मेरा स्वार्थ भी टूटता है। मैं आपकी सहनशीलता के आगे परास्त हूँ। अहिंसा को अपरिग्रह का, त्याग का, संयम का, प्रेम का, करुणा का, परिश्रम का, और निज की तृष्णा को समेट लेने का कड़ा धरातल चाहिए। लेकिन इन्सान अपनी आधुनिक सभ्यता को इस धरातल पर खड़ा नहीं रख सका। उसने जो पटरियाँ बिछाई हैं वे स्वार्थ की और अहंकार की हैं—इन पटरियों पर अहिंसा की रेल कैसे दौड़ेगी?

दूसरी ओर, हमारी वस्तु-निष्ठा ने और आरामदेह जिन्दगी की चाह ने वस्तुओं का एक महासागर रच लिया है। वस्तु, सम्पदा और धन को अपना आराध्य देव घोषित करके मनुष्य ने जिस हिंसा को जन्म दिया है वह बहुत विषैली है। धीरे-धीरे उसने पूरी सृष्टि पर अपना विष फैलाया है। वैज्ञानिकों को चिंता हुई है कि यदि इसी



रफ्तार से मनुष्य अपने उपभोग के लिए धरती की सम्पदा को लूटता रहा तथा अपनी आरामदेह जिन्दगी के लिए अनन्त वस्तुओं की उत्पादन प्रक्रिया में इस पूरे जगत को अनेकानेक प्रदूषणों से ढँकता रहा तो जीवन टूट जायगा। आदमी के रहन-सहन की आधुनिक सभ्यता के साथ जुड़ी हिंसा हमारी धमनियों में इस कदर प्रवाहित हुई है कि इसे रोकने के लिए एक महा-पुरुषार्थ की जरूरत है। एक आदमी के लिए यह बहुत आसान है कि वह अपनी थाली से मांस का टुकड़ा अलग कर दे और अपने पैर के नीचे दबकर मर जाने वाली चींटी को बचा ले जाय। लेकिन बेशुमार हिंसा को जन्म देने वाली हमारी उत्पादन प्रक्रिया का क्या होगा? वह तो वस्तु के गर्भ में जाकर बैठ गई है। जिस यंत्रीकरण पर मनुष्य को नाज है, अपनी विज्ञान प्रगति पर उसे गर्व है और बिजली की सहायता से उसने अपने ही लिए उपभोग की वस्तुओं का जो जाल बुना है—इन सबने व्यापक हिंसा को जन्म दिया है। क्या-क्या छोड़ेंगे आप? यह संभव नहीं रह गया है कि हम वल्कल पर उतर आयें और पाषाण-युग की सभ्यता को स्वीकार लें।

बात बहुत साफ है मित्रो, कि हमसे अपनी एफ्लूएन्सी—अपना बाहुल्य छोड़ते नहीं बनेगा। उपभोग की जिस ऊँचाई पर हम जा खड़े हुए हैं वहाँ से बहुत नीचे उतरते भी नहीं बनेगा। एक अजीब आकांक्षा हमें घेरे हुए है—जो हमें मिल गया है उसे छोड़ देने का तो सवाल ही नहीं, पर जो नहीं मिल पाया है उसे प्राप्त करने की धुन में हम लगे हैं। और अपने घर में, समाज में, क्षेत्र में ऐसा जीवन जी रहे हैं जो अहिंसा से बहुत दूर चला गया है।

फिर भी अहिंसा हमसे फेंकी नहीं जायगी—वह तो मनुष्य के जीवन की तज है। उसके रक्त में बिधी है। एक अजीब उलझन में आज का मनुष्य पड़ गया है। अहिंसा छोड़ नहीं सकता और हिंसा स्वीकार नहीं सकता। साथ ही साथ जीवन उसका टिक गया है हिंसा के उपकरणों पर और बाहर समाज में अहिंसा के उपकरण उससे छुए नहीं जा रहे हैं। इसलिए हम अपनी-अपनी अहिंसा लेकर रसोईघर में चले गये हैं या मन्दिर में जा बैठे हैं और उधर जीवन को खुले हाट-बाजार में होड़, स्पर्धा, स्वार्थ, अहंकार, शोषण, आपाधापी, भय, अन्याय और क्रूरता के हवाले कर दिया है। ये सब हिंसा के ब्रीडिंग ग्राउण्ड—उपज स्थान है। बात यह है कि जिन बातों को समाज में हमने प्रतिष्ठित किया है, उनसे हिंसा उपज रही है। हमारे सामाजिक प्रतिष्ठा-प्रतिमान अहिंसा से मेल नहीं खाते। वस्तुओं के कारण, सत्ता के कारण, धन के कारण जो शरीर-सुख, सन्तुष्टि और सम्मान हमें समाज में प्राप्त होता है वही हमारा सिरमौर बन गया है। दोनों हाथ लड्डू—आरामदेह जिन्दगी भी और यश भी। लेकिन इसी आरामदेह प्रतिष्ठित जिन्दगी के लिए जिन उपकरणों का सहारा हम ले रहे हैं वे हिंसा की एक अटूट शृंखला अपने साथ ले आये हैं और मनुष्य खुद ही आगे बढ़कर हिंसा के विषम-चक्र में फँस गया है।

इस अर्थ में जितनी अहिंसा मनुष्य के हाथ लगी वह बहुत छोटी साबित हो रही है। हमारी रसोई घर की अहिंसा सफल होकर इतना ही तो कर पायगी कि मनुष्य की पूरी की पूरी जमात शाकाहारी बन जाय और जीव-दया पालने लगे। दूसरी ओर, सम्पूर्ण क्रूरताओं, अन्यायों, अत्याचारों को वैसा ही चलने देकर हम एक ऐसा मानव समाज रच लेंगे जो अपने-आप में शाकाहारी हिंसक समाज कहलायेगा।

इस तरह अहिंसा नहीं उगेगी। अहिंसा की दृष्टि से आज का युग बहुत नाजुक और चुनौती भरा है। अनजाने ही हम हिंसा के एक बड़े आरबिट—घेरे में ढुलक गये हैं, तथा रोज गहरे धँसते जा रहे हैं। प्रश्न यह पैदा हुआ है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध अहिंसा आधारित कैसे हों? बहुत अजीब प्रश्न है—मनुष्य को सर्वप्रथम आपस में ही अहिंसा जीनी है और अहिंसा सिद्ध करनी है। सृष्टि का सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी अपने आपसी सम्बन्धों में एक प्रश्न चिन्ह बन गया है।

समाजबोध

अब हमें समाजबोध की जरूरत है। आत्मबोध अकेला काम नहीं देगा। मनुष्य ने अच्छी तरह समझा है कि यदि वह हारता है तो अपनी ही तृष्णा से हारता है, उसका वैर ही उसको पछाड़ता है। मेरा पशुबल आपके आत्मबल के आगे हिम्मत हार जायगा। भारत ने यह करिश्मा करके दिखलाया है—नंगी खुली छातियों पर अंग्रेजी हुकूमत की गोलियाँ बेमाने हो गयी थीं। यह जो दिलेरी से कष्ट सह जाने की और वीरता के साथ अन्याय के मुकाबले डटकर खड़ा हो जाने की भीतरी ताकत है उसके आगे बन्दूक की कोई हस्ती ही नहीं। मनुष्य के पास प्रेम की, कृपा की, संवेदना की, क्षमा की, त्याग की और कष्ट-सहन की जो ताकत है वह अनन्त गुनी है और उसके सामने शरीर का पशुबल कोई अर्थ नहीं रखता।

इतनी अनन्तगुनी शक्ति का मालिक मनुष्य समाज-जीवन में बहुत पंगु बन गया है। वह अपना आत्मबल आजमा ही नहीं पाया। अहिंसा जीनी है तो अब समाज के रोजमर्रा के प्रतिपल-प्रतिक्षण के जीवन में जीनी होगी।

देवालियों में तो हमने बहुत अहिंसा साध ली और रसोई घर की अहिंसा के लिए भी हम बहुत सजग हैं, पर समाज जीवन में हमने धन की सत्ता स्वीकार ली है, व्यापार-व्यवसाय के शोषण-अन्याय-अत्याचार के साथ समझौता कर लिया है। हुकूमत की मनमानी के आगे घुटने टेक दिए हैं—इस कारण मनुष्य की दिशा ही बदल गई है। उसका सामाजिक जीवन हिंसा आधारित हो गया है।

अहिंसा इस मुकाम पर ठिठकी खड़ी है। उसका दायरा फैलना चाहिए। जब तक वह मानव समाज के सम्पूर्ण जीवन को नहीं छूती—उसके व्यापार-व्यवसाय में, हाट-बाजार में, राजनीति में, कल-कारखाने में नहीं उतरती तब तक पंगु ही बनी रहेगी। आज के अहिंसा-धर्मी के सामने यह एक बड़ी चुनौती है। उसे यह देखना होगा कि किन-किन बातों ने मनुष्य को तोड़ा है, उसकी संवेदनशीलता को फीका किया है, करुणा को क्रूरता में बदला है, प्रेम का स्थान बैर ने लिया है और अपने ही समुदाय में आदमी भयभीत होकर दीनता का शिकार बना है। अहिंसा के क्षेत्र में मनुष्य के सामने यह एक महा-भागीरथ कार्य है। वह इसे नहीं छूएगा तो उसका सारा आत्मबोध जो उसने इतना चलकर प्राप्त किया है, अर्थहीन हो जायगा। भले ही वह अपने व्रत-उपवासों में और भोजन की थालियों में अहिंसा पालता रहे और मुँह से अहिंसा का जयघोष करता रहे—वर्तमान युग में बढ़ रही समाज जीवन की हिंसा उसे ढंक लेगी। यह सम्भव नहीं है कि हमारे कदम हिंसा के डग भरते रहें और हम अहिंसा की वाणियाँ उच्चारते रहें। हमारे चारों ओर कांस की तरह उग रही हिंसा का मुकाबिला किये बिना अहिंसा हाथ नहीं आयगी।

पहले अपरिग्रह फिर अहिंसा

अहिंसा के पंगु हो जाने का जो एक बुनियादी कारण है, वह यह है कि हमने अहिंसा की आधारशिला—बैकबोन को पकड़ा ही नहीं। अहिंसा की पीठ पर महावीर ने लिख दिया था 'अपरिग्रह'। यह अहिंसा का बैकबोन—मेरुदण्ड है। पर आज सादा-सरल जीवन प्रतिष्ठित नहीं है। मेहनत से कमाई सूखी रोटी लाचारी है, समाधान नहीं। वस्तुहीन मनुष्य पर वस्तु न होने की चिन्ता का अधिक बोझ लदा है। हमारा सारा प्यार, सम्मान, नेह और आदर 'व्याग' के पक्ष में पहुँचना चाहिए था, पर वह बटोरने वाले की गोद में जा रहा है। मनुष्य की आँखें वहीं टिकी हैं, जहाँ वैभव है, अधिकार है। उपभोग की अन्धाधुन्ध दौड़ ने मनुष्य को तो खण्ड-खण्ड किया ही है, प्रकृति को भी तोड़ा है। इकाँलाजी (परिस्थिति-विज्ञान) ने खतरे की घण्टी बजाना शुरू कर दिया है। जीवन-स्तर की कभी न बुझने वाली चाह के कारण इन्सान ने प्रकृति को इतना दुहा है कि उसके सारे भण्डार चीं बोल रहे हैं। मनुष्य के उपभोग का सामान प्रकृति से मिल पायेगा या नहीं, यह खतरा सामने है। जीवन के लिए प्रकृति, प्राणी जगत् और मनुष्य के बीच गहरे विवेकशील सामंजस्य की जरूरत है। हमें अपना उपभोग सीमित करना होगा। जितनी जरूरत है, उतना ही लेना होगा और बदले में प्रकृति को वह सब लौटाना होगा जो उसे तोड़े नहीं, बल्कि पुष्ट करे। हमने प्रकृति को बेशुमार जहरीली गैस, गन्दगी, नाशक दवाइयाँ, केमिकल्स, दूषित वायुमण्डल दिया है। यदि उपभोग की वस्तुएँ सीमित नहीं हुईं और हमारे कल-कारखाने वे सब सामान उगलते रहे जो एक ओर तो मनुष्य को तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर प्रकृति का विनाश कर रहे हैं तो अनचाहे हम हिंसा का ही वरण कर रहे हैं और करते जायेंगे। ऐसी स्थिति में हमारी यह परम्परागत देवालयी और रसोईघर की अहिंसा हमारा कितना साथ देगी? अहिंसा तभी जीवन में उतरेगी जबकि मनुष्य उसकी आधारशिला—बैकबोन—अपरिग्रह को भी जीवन में लायेगा और प्रतिष्ठित करेगा।

आज के युग की अहिंसा का सीधा मुकाबिला परिग्रह से है, वस्तुओं के अम्बार से है, उपभोग की असीम चाह से है और अपने लिए अधिकाधिक पा लेने या बटोर लेने की आकांक्षा से है। एक ऐसा युद्ध, जो हमें एक नई जिन्दगी जीने के लिए ललकार रहा है। मनुष्य को अपना पूरा जीवन बदलना होगा—बाहर से भी और भीतर से भी।

